

शोनी सलोनी
हिन्दी विभाग
वीमेंस कॉलेज
अमरसिपुर

स्नातक प्रविष्टि हिन्दी तृतीय श्रेणी
(B.A. Hons. Part II)
अष्टम पत्र

पाठ्य विषय:— आचार्य रामचंद्र शुक्ल की
आलोचना पद्य

आचार्य शुक्ल कविता के संबंध में बहुत ऊंचा ख्याल रखते हैं। उनकी राय में कविता मनुष्य को मनुष्यता की उच्च भूमि में ले जाती है। कविता जगत के भीतर ही मनुष्यता का अधिकारिक विस्तार करती हुई उसे एक ऐसी भूमि पर ले जाती है जहाँ शेष संसार से मनुष्य का तादात्म्य हो जाता है। यह कविता के द्वारा रस के साधारणीकरण की धारणा है। शुक्ल जी मानते हैं कि कविता जीवन के भीतर से ही उत्पन्न होती है। कविता को जीवन से प्रिव्यक्त खताना कहीं की बात नहीं लगाना है। वे कहते हैं कि कोई आदमी यदि बाल्य का पता जीवन-जगत से बाहर लगाने निकलता है तो वह कविता के बहाने किसी और चीज की फेर में है। यहाँ प्रव्यक्त रूप से रहस्यवाद का विरोध है। वे रहस्यवाद के विरोधी इसलिए हैं कि वे ज्ञान, व्यक्त और सत्य के हिताचारी हैं। साथ ही कृत्रिमता, नक्काशी और धाँधलपट्टी के विरोधी भी हैं। शुक्ल जी ने कविता के संसार को आलोचित करने के लिए कहा कि कविता का संबंध शब्द की व्यक्त सत्ता से है। इस प्रत्यक्ष, गोचर जगत से है अत्यक्त सत्ता से नहीं। जगत भी अभिव्यक्ति है, कविता भी अभिव्यक्ति है। जगत अत्यक्त की अभिव्यक्ति है।

और काव्य अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति है। शुक्लजी प्रत्यक्ष जगत और जीवन से कविता का अत्यन्त संबंध स्वीकारते हैं इसी कारण वे रहस्यवाद के विरोधी हैं। उनकी दृष्टि में रहस्यवाद आध्यात्म का विषय है, काव्य का नहीं। दूसरी बात वे मानते हैं कि रहस्यानुभूति का संबंध परार्थ से नहीं होता, वास्तविक जीवन से नहीं होता। वे कहते हैं कि स्वल्प शब्दी सामान्य संपत्ति होता है और इन्क हरेक का अलग-अलग होता है। आ. शुक्ल ने रहस्यवादियों सिद्धों, नाट्यों की चेष्टाकार को काव्यपारा मानने से ईकार इसी कारण से किया। कबीर का महत्व उनकी नजर में कम सिर्फ इसलिए है कि कबीर का अधिकांश काव्य संसार शून्य, अलौकिक संसार है।

शुक्लजी काव्यवाद का भी इसीलिए विरोध करते हैं कि उसमें अज्ञान के प्रती जिनसा के महाने कविता उस संसार में जाने की बेचैनी दिखा रही थी जो क्लिप्त के उस पार का संसार है। वे काव्यवाद का वहीं विरोध करते हैं जहाँ शून्यवाद से उसका निचलाप हुआ है।

शुक्लजी शक्यवादी आलोचक हैं। उन्होंने 'चिंतामणि' के विषयों और 'रसमीयांसा' के जरिये रस की कस्तुवादी व्याख्या की। उनकी दृष्टि में रस न तो अलौकिक है, न चिन्मय और न ही ब्रह्मानंद सहोदर। उन्होंने शक्यवाद को जीवन जगत से जोड़ा और उसे मनुष्य के अनुभव के दायरे में ले आया। रस का जो अर्थ आनंदवाद से

लिखा जाता है, शुक्ल जी इसके भी विरोधी हैं।
 वे कहते हैं कि इस 'आनंद' शब्द ने कविता को कम
 क्षमि नहीं पहुँचाई। इसे नाच-तमाशेपन की चीज बना
 दिया। वे इस को लोकोत्तर न बताकर उसे एक अर्थात्
 भूमि प्रदान करते हैं। रूप और रस के संबंध को वे
 विष्णुल आपने-साधने रखकर देखते हैं। वे कहते
 हैं " संसार-सागर की रूपतरंगों से ही मनुष्य ही
 कल्पना का निर्माण और उसी रूपजाति से ही
 मनुष्य के भीतर विविध मनोभावों या मनोविकारों
 का विधान होता है।" यहाँ शुक्ल जी कविता के
 भीतर पैदा हुई कल्पना को वास्तव जीवन से ही
 जोड़कर देखते हैं और यह बताते हैं कि कल्पना
 की सहायता से रची गई रचना भी इस जीवन जगत
 से सीधे जुड़ी हुई होती है। वह कल्पना नहीं होती।
 शुक्ल जी कविता को इस की उच्च भूमि में ले जाने का
 वास्तव मानते हैं। कविता उनके लिए आनंद प्राप्ति का
 साधन नहीं है बल्कि वह जीवन जगत से जुड़ने का
 साधन है। वे कहते हैं कि शेष सृष्टि के साथ
 राजात्मक संबंध भी रसा और निर्वाह ही कविता है।
 वे कहते हैं कि कविता मनुष्य को स्वार्थ संबंधों के
 संकुचित मंडलों से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य
 भाव-भूमि में ले जाती है। यह लोक-सामान्य
 भाव भूमि ही कल्पना की मुक्तावस्था है। इस
 मुक्तावस्था का संबंध शुक्ल जी इस दशा से जोड़ते
 हैं। इस दशा में पहुँच कर ही मनुष्य अपनी
 संकीर्णता त्याग देता है और दूसरे के सुखदुःख
 से जुड़ता है। शुक्ल जी कहते हैं कि कविता

मनुष्य को शणभर के लिए स्वार्थ-संबंधों से अलग
 शैव संसार से जोड़ देती है। यह गुण ही स्वभाव है।
 इस में साधारणीकरण या तादात्म्यकरण होता है। मनुष्य
 को एक ऐसी आनसिक भूमि में ले जाती है
 जहाँ लोकहृदय के साथ व्यक्तिहृदय का लिपिकुल
 तादात्म्यकरण हो जाता है। शुक्ल जी कहते हैं
 लोकहृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम
 ही स्वदशा है। इस दशा में पहुँच करके मनुष्य
 मनुष्यता के उच्च गुणों से सम्पन्न हो जाता है।
 यहाँ उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति के साथ मिल
 जाती है। आ. शुक्ल कहते हैं जिस प्रकार आत्मा की
 मुक्तावस्था का नाम सातदशा है उसी प्रकार हृदय की
 मुक्तावस्था का नाम स्वदशा है। शुक्ल जी इस स्वदशा
 का संबंध लोकमंगल से जोड़ते हैं। यह लोकमंगल
 मुक्त हृदय का ~~संबंध~~ सौंदर्य है। मनुष्य जब मनुष्यता
 की सबसे उच्च कक्षा में पहुँच जाता है तो दूसरे के
 सुख में सुख, दूसरे के दुःख में दुःख की अनुभूति
 करने लगता है। तब वह विश्वहृदय हो जाता है। तब
 पहुँचा हुआ आदमी लोकधर्म में अस्था रहता है। मनुष्य
 ज्ञान के द्वार में उसे आनंद की अनुभूति होती है।

शुक्ल जी कर्म सौंदर्य में विश्वास
 रखते हैं। रूप-सौंदर्य में नहीं। कर्म सौंदर्य ही व्यक्ति के
 शील गुण का निर्वीरव होता है। लोकमंगल के कारण
 ही शुक्ल जी तुलसीदास को हिन्दी साहित्य का सबसे
 बड़ा कवि मानते हैं। तुलसी उन्नीस शतक में इसलिए
 भी बड़े हैं क्योंकि भक्ति की चरम सीमा पर पहुँच कर ही
 उन्होंने लोकधर्म नहीं त्यागा। वास्तव्य और शृंगार
 के क्षेत्र में कवि के रूप में सुरवास की फेवकता
 प्रमाणित करते। इस भी के उन्हें तुलसी से कमतर

5
इसलिए मानते हैं क्योंकि अका नन लोकमंगल
में इतना रसा नहीं है। आ. शुक्ल मुख्य काल
की तुलना में प्रबंध काव्य को बेहतर मानते हैं क्योंकि
जितना प्रबंध काव्य में जीवन का सांभोपांग चित्रण
हो सकता है उतना गुच्छक काव्य में नहीं। रसकवा
या भाव विकास की गुंजाइश प्रबंध काव्य में ही
हो सकती है। आ. शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास
में एवं 'त्रिंशती' में अपनी व्यावहारिक समीक्षा
प्रस्तुत की है। इसी आलोचना में व्यवहार
तथा सिद्धान्त की गहरी स्वरूपता है। वे
अनविरोधी चारणाओं के विरोधी हैं और साहित्य में
जहाँ भी उन्हें लोकमंगल से कटाव दिखता है वहीं
वे ऐसे साहित्य के विरोध में खड़े हो जाते हैं।

उन्होंने यदि 'व्यापावाद' जैसे
बड़े काव्यान्दोलन का विरोध किया तो सिर्फ
इसलिए क्योंकि लाक्षणिकता और रहस्यवादिता
के कारण कविता उन्हें वास्तविक जीवन से दूर
जाती दिख रही थी।

आचार्य शुक्ल पाश्चात्य
आलोचना साहित्य एवं भारतीय काव्य शास्त्र
के मर्मज्ञ थे। इनके पदचर - आत्मसात पर
उन्होंने हिन्दी के अपने नए आलोचनात्मक
प्रतिपात्र गढ़े। उनके प्रतिपात्र अपने समय की
कविता के मूलधांडन के मानक ही नहीं हैं बल्कि
वे हर दौर की कविता को समझने के उपयोगी
आधार हैं।

आ. शुक्ल की आलोचना पद्धति
पाश्चात्य आलोचना पद्धति है लेकिन

उनके आलोचनात्मक प्रतिमान शुद्ध भारतीय एवं साहित्यिक हैं। उन्होंने दूसरे विषय के प्रतिमान के स्वीकार का भी विरोध किया है।

पाश्चात्य आलोचना पद्धति की छाप सबसे पहले निम्न ग्रंथों में दिखी जहाँ वे इसे आगे नहीं बढ़ा सके। उन्होंने जिसे छूट छोड़ दिया शुक्ल जी उसे विकसित करते हैं।

शुक्ल जी सीतिकापी आलोचक की तरह कविता में बरख अलंकार आदि की बंधन विरत हैं पर यह सीतिकापी आलोचकों का प्रभाव शुक्ल जी के लिए साध्य मात्र है जबकि निम्नग्रंथ एवं पद्म सिंह झाकी के लिए यही साध्य है। आचार्य शुक्ल का साध्य है कविता में मोक्षमंगल की तलाश।

इस प्रकार आ. शुक्ल ने अपनी आलोचना में द्विवेदी युगीन दोनों आलोचना-धाराओं को आत्मसात कर लिया है।

शुक्ल जी की सैद्धान्तिक आलोचना का एक बड़ा आधार है विरुद्धों का सामंजस्य। स्वयं उनकी आलोचना भी द्विवेदी युग की परस्पर विरोधी आलोचना-धाराओं को आत्मसात कर विरुद्धों का सामंजस्य ही करती है।
